अमृताशीति

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण
002) कुछ पद्यों के द्वारा विषयसुख मे निमित्तभूत धनोपार्जन के प्रयत्नो के प्रकारों का निरूपण करते है --
006) राजदरबार में होनेवाला प्रयत्न
007) गुणीजनों का सामीप्य लक्ष्मी के लिए आश्रय स्थल है
008) लक्ष्मी के अन्य अवगुण
010) सांसारिक सुख के पक्षपाती को आशा दिखाकर समझाते हुए कहते हैं --
011) दु:खबहुल संसार में सुख का अंशमात्र भी स्वीकारने की मान्यता अपराध
012) स्वानुभूति से उत्पन्न होनेवाले आनन्द की महिमा --
013) अब अनंतसुख की प्राप्ति कैसे अशक्य है और कबतक ?
014) शरीर की अपवित्रता
015) बहिर्मुख विश्व की दुरवस्था
016) भेदविज्ञान से रहित मनुष्य की प्रवृत्ति
018) कर्म से हताश व्यक्ति को दृष्टान्तपूर्वक उत्तर
019) मोह-बैरी को जीतने का उपाय
021) समता-भावना की सामर्थ्य
023) चारित्र की आराधना के बिना सुख संभव नहीं
024) कामाग्नि के पुंज के बीच समता द्वारा शीतलता
026) समाधि सुख की प्रेरणा
027) ध्यान-सामग्री का कथन
028) अर्हंत की बीजाराधना का फल
030) सकल और निष्कल के वाच्य-वाचकों का निरुपण
031) उस (पूर्वोक्त अजपा) आराधना का फल
032) अज्ञान कब तक
033) परम्परा से अक्षयसुख के कारणभूत परमात्मा के नाम के अक्षर
034) अर्हंत परमात्मा के ध्यान के भेद
035) इस अनाहत-मंत्र को जानकर क्या करना चाहिए?
037) अनाहत प्रदेश उत्कृष्ट फल को देने वाले
038) बिन्दु रूप अनाहत निरूपण
039) बिन्दुदेव की आराधना के प्रदेश तथा उस आराधना का फल
040) पवन-जय के विधान का निरूपण करने के लिए मूल अनाहत
041) अनाहत की आराधना से रहित व्यक्ति के दु:खों का वर्णन
042) अनाहत-आराधना का निरूपण
045) अनाहत-नाद की आराधना और उसका फल
046) नाद की उत्पत्ति का काल तथा भेद
047) नाद की उत्पत्ति का स्थान
048) अनाहत नाद का फल
051) अनाहतनाद की आराधना के द्वारा मुक्तिमार्ग मे प्रवर्तमान
052) ज्योतिरूप अनाहतस्वरूप का निरूपण
054) मोह और कालवश उपदेश का नाश
055-056) दिव्य-उपदेश का निरूपण
057) गुरु के उपदेश के बिना तत्त्व का परिज्ञान नहीं
058) गुरु-उपदेश का महत्व
059) फल प्राप्ति में कृतज्ञता
060) मोक्षमार्ग की आराधना
061) अस्थिर मन दोषयुक्त
063) परमयोगी के लिए शरीर में ममकार नहीं

065) राग-द्वेष की उत्पत्ति और इनके उपशमन के निमित्त
066) निर्विकल्पस्वरूप आराधना ही साक्षात् मोक्ष का हेतु
067) अहंकार ममकार को छोड़ने की प्रेरणा
069) चिन्मयज्योतिरूप आत्मा
070) निज-निरंजन परमात्मा का प्रकाश उपादेय
071) अनन्तसुख का कारण अतींद्रिय (स्वसंवेदन) ज्ञान (ही) उपादेय
072) परमब्रह्मस्वरूप को प्राप्त न कर सकना ही संसार
076) संसार में कदापि सुख नहीं है
077) भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित संसार की असारता
078) परम-उपदेश का निरूपण
080) अन्त्य मंगल
081) टीकाकार की प्रशस्ति

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्रीमद्-भगवत्योगींदुदेव-प्रणीत
श्री
अमृताशीति
मूल अपभ्रंश गाथा
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-अमृताशीति नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-योगींदु-देव विरचितं ॥
(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र अमृताशीति नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीयोगींदुदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)
॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

विश्वप्रकाशिमहिमानममानमेकम्
ओमक्षराद्यखिलवाङ्मयहेतुभूतम् ।
यं शंकर सुगतमीशमनीशमाहु:
अर्हन्तमूर्जितमह तमहं नमामि ॥१॥
अन्वयार्थ : तीनों लोकों और तीनों कालों में रहने वाले समस्त पदार्थों को युगपत् प्रकाशित करने में समर्थ महिमा के धारी, अनन्त गुणों से युक्त होने से जिन्हे 'अपरिमित' ऐसा कहा गया है (तथा) अखण्ड चैतन्यगुण की अपेक्षा से जो एक हैं (तथा) 'ॐ' इस अक्षर सहित सम्पूर्ण वाङ्मय के कारणभूत है -- "अर्हन्त, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि-- इन पाँचो परमेष्ठियों के नामों के प्रथम अक्षरों

से निष्पन्न ॐकार' पचपरमेष्ठी है", --इनकी स्वर-सन्धि से निमित्त ॐकार आदि सम्पूर्ण वाङ्मय का उपदेशकत्व होने से ॐकारादि सम्पूर्ण वाङ्मय के कारण है, ऐसे जो कोई सम्पूर्ण जीवों के लिए सुख के उपदेशक होने से 'शंकर' है, परमपद को प्राप्त होने से जो 'सुगत' है, परम उत्कृष्ट ऐश्वर्य से युक्त होने से जो 'ईश' है (तथा) अपने से अधिक (अन्य किसी पदार्थ के) न होने से जो 'अनीश' हैं, (ऐसे) अत्यन्त प्रकाशमान उन परमात्मा अर्हन्त भट्टारक को गणधरदेवादि 'योगीन्द्र' कहते है (अर्थात् गणधरदेव भी उनका गुणगान-स्तुतिगान करते हैं) -- इस युग के प्रारम्भ में हुए उन सर्वज्ञ परमात्मा को मैं योगीन्दुदेव नमस्कार / वन्दना करता हूँ ।

कुछ पद्यों के द्वारा विषयसुख मे निमित्तभूत धनोपार्जन के प्रयत्नो के प्रकारों का निरूपण करते है --

भ्रात: ! प्रभातसमये त्वरित किमर्थम्, **अर्थ**ाय चेत् स च सुखाय ततः स सार्थ: ।
यद्येवमाशु कुरु पुण्यमतोऽर्थसिद्धि:,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्था: ॥2॥

अन्वयार्थ : हे भाई ! सुर्योदयकाल में शीघ्रगमन किस कारण से करते हो ? यदि अर्थ के कारण (करते हो, तो) वह अर्थ विषयसुख का निमित्त है (और) उस 'विषयसुख की प्राप्ति से स्व-अर्थ की सिद्धि होती है' - यदि ऐसा तुम्हारा चिन्तन है, तो शीघ्र पुण्यानुष्ठान करो । इस पुण्योपार्जन से तुम्हे इष्ट पदार्थ की सिद्धि होगी । विविध प्रकार के अभ्युदय के सुखों को देने वाले पुण्य के उदय के बिना वांछित पदार्थ प्राप्त नही होते हैं ।

धर्मादयो हि हितहेतुतया प्रसिद्धा,
धर्माद्धनं धनत ईहितवस्तुसिद्धि ।
बुद्ध्वेति मुग्ध! हितकारि विधेहि पुण्यं,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्था ॥३॥

अन्वयार्थ : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - ये वास्तव में स्पष्टत: जीव के हित के निमित्तरूप से लोक में प्रसिद्ध है। अभ्युदय और नि:श्रेयस के कारणभूत धर्म से इन्द्रियसुख की प्राप्ति का कारणभूत धन प्राप्त होता है (और) धन से वांछित वस्तु की प्राप्ति होती है -- ऐसा जानकर हे विवेकरहित हित के अनुष्ठान में रत जीव ! निर्दोष पुण्य का उपार्जन कर । विविध प्रकार के अभ्युदय सुख को देने वाले पुण्य के उदय के बिना भलीभाँति चाहे गये पदार्थ प्राप्त नहीं होते हैं ।

वार्तादिभिर्यदि धनं नियत जनानाम्,
निस्व कथ भवति कोऽपि कृषीवलादि: ।
ज्ञात्वेति रे! मम वच चतुरास्स्व पुण्ये,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्था ॥4॥

अन्वयार्थ : धनोपार्जन के लिए अहेतुकर बातचीत आदि से लोगों के लिए यदि कही सोना-चांदी आदि पदार्थ नियम से प्राप्त होते हो, तो कृषक आदि कोई भी व्यक्ति धनरहित कैसे होता ? ऐसा मेरा कथन जानकर अरे विवेकयुक्त ! पुण्य के अनुष्ठान में स्थित रहो, (क्योकि) पुण्योदय के बिना वांछित पदार्थ प्राप्त नही होते हैं ।

प्रारभ्यते भुवि बुधेन धियाऽधिगम्य,
तत्कर्म येन जगतोऽपि सुखोदय स्यात् ।
कृष्यादिकं पुनरिद विदधासि यत्वम,
स्वस्यापि रे ! विपुल दु:खफल न किं तत् ॥5॥

अन्वयार्थ : निजनिरंजन परमात्मा के परिज्ञान के धनी पुरुष के द्वारा विवेकरूपी उपकरण से 'इससे अवश्य ही स्वर्ग व मोक्षरूप फल प्राप्त होगा' -- ऐसा जानकर लोक में (कोई कार्य) प्रारम्भ किया जाता है। यह निजात्मा का अनुष्ठान से उत्पन्न, जिससे जगत् के जीवों के भी चार सौ गव्यूति तक सुभिक्षता का कारणरूप होने से सुख का उदय होता है। तुम फिर जो यह प्रत्यक्षीभूत कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि क्रिया-व्यापार को अत्यन्त आग्रह से 'करता हूँ' -- ऐसा कहते हो (तो) रे ! (तुम्हे) स्वयं भी (इनसे) अत्यन्त दुःखरूपी फल के अलावा भी कुछ होता है क्या ?

राजदरबार में होनेवाला प्रयत्न

एह्येहि याहि सर निस्सर वारितोऽसि,
मा मन्दिरं नरपतेर्विश रे विशंकम् ।
इत्यादि सेवनफलं प्रथमं लभन्ते,
लब्ध्वापि सा यदि चला सफला कथं श्री ॥6॥

अन्वयार्थ : आओ-आओ, कुछ आगे बढ़ो, समीप मत जाओ, तुम निवारित हो, मना किये गये हो न ! अरे ! राजा के महल के अन्दर शंकारहित होकर प्रवेश मत करो -- ऐसे बहुत प्रकार के राजदरबार में उपस्थित होने के फल को (सेवकगण) सर्वप्रथम प्राप्त करते हैं । यदि प्राप्त करने के बाद भी वह लक्ष्मी चंचलित होती है, तो वह सफल कैसे होगी ?

गुणीजनों का सामीप्य लक्ष्मी के लिए आश्रय स्थल है

वार्त्तापि किं न तव कर्णमुपागतेयम्,
पात्रे रतिं स्थिरतया न गता कदाचित् ।
चापल्यतोऽपि जितसरुव नितम्बिनि श्री,
तस्या कथ बत कृती विदधाति संगम् ॥7॥

अन्वयार्थ : चंचलता (कटाक्ष आदि कलापों) से जिसने जगत् की समस्त सुन्दर स्त्रियों को जीत लिया है, ऐसी (सौन्दर्य-साम्राज्ञी) लक्ष्मी, श्रेष्ठ कुल व सद्गुणों से युक्त पात्र व्यक्ति में, इतना होने पर भी, दृढ तन्मयता से सन्तुष्टि को प्राप्त नही हुई है -- यह कथन तुम्हारे कान में स्पृष्ट भी नही हुआ है क्या ? (यदि हुआ है, तो फिर), उस लक्ष्मी के सहवास / सान्निध्य को मेरे जैसे विवेकीजन, अत्यन्त खेद है, कैसे सहन करते है ?

लक्ष्मी के अन्य अवगुण

रत्नार्थिनी यदि कथं जलधिं विमुंचेत्,
रूपार्थिनी च पंचशरं कथं वा ?
दिव्योपभोगनिरता यदि नैव शक्रम्,
कृष्णाश्रयादवगता न गुणार्थिनी श्री ॥8॥

अन्वयार्थ : (उक्त लक्ष्मी) यदि पद्मरागादि अमूल्य मणियों में निरत रहती (तो) रत्नाकर (समुद्र) को क्यों छोडती ? (तथा यदि) सुन्दर रंग-रूप पर आसक्त मन वाली थी (तो) कामदेव को फिर क्यों छोडती ? (अथवा) कल्पवृक्ष से उत्पन्न दिव्य भोग-उपभोग में मग्न रहने का आग्रह था (तो उसे) देवेन्द्र का साथ नही छोडना था । (किन्तु) कृष्ण (विष्णु) का आश्रय लेने से यह जान लिया गया है कि (वह लक्ष्मी) गुणों को चाहने वाली नहीं है ।

सत्वाधिकोऽपि सुमहानपि शीतलोऽपि,
मुक्त श्रिया चपलया जलधिर्ययेह ।
तस्या कृते कथममी कृतिनोऽपि लोका,
क्लेशं ज्वलज्ज्वलनमाशु विशंति केचित् ॥9॥

अन्वयार्थ : शक्ति में अधिक होकर भी, अत्यन्त बडप्पनयुक्त होकर भी, ठंडे स्वभाव वाला होकर भी समुद्र के समान पुरुष, जिस चपला लक्ष्मी के द्वारा छोड दिया गया है, ऐसी लक्ष्मी के संयोग के लिए कैसे प्रत्यक्षरूप, विवेकयुक्त होकर भी प्रभाकर-भट्ट आदि ये पण्डितजन धन कमाने के प्रयत्नों से उत्पन्न दु:खरूपी अत्यधिक प्रज्वलित अग्नि में शीघ्रता से प्रविष्ट हो जाते हैं !

सांसारिक सुख के पक्षपाती को आशा दिखाकर समझाते हुए कहते हैं --

सत्यं समस्ति सुखसल्पमिहेहितार्थै,

ईहापि तेन तव तेषु सदेति वेद्मि ।
तेषां यदर्जनवियोगज - दु:खजालम्,
तस्यथावधिं बहुधियापि न हन्त वेद्मि ॥10॥
अन्वयार्थ : चेष्टित पदार्थों से अल्पपरिमाण में सांसारिक सुख (प्राप्त होता है, यह बात) सत्य है, इन पदार्थों में तुम्हारी सदैव चेष्टा भी बनी रहती है यह भी मैं जानता हूँ, किन्तु उन इन्द्रिय-विषयों में संग्रह के वियोग से होने वाले दु:ख के समूह की सीमा को, विविध प्रकार की बुद्धि से समन्वित होकर भी, हे भाई, मैं नही जानता हूँ ।

दु:खबहुल संसार में सुख का अंशमात्र भी स्वीकारने की मान्यता अपराध

निर्बाधमाधिरहितं विधुताघसंघम्,
यद्यस्ति नापरमपारममारसौख्यम् ।
एवविधेऽपि मतिमानपि शर्मणीत्थम्,
बुद्धिं करोतु पुरुषो वद कोऽत्र दोषं ॥11॥
अन्वयार्थ : बाधारहित, मानसिक पीडावर्जित, निराकृतप्रतिपक्षभूतकर्मसमूह वाला, उत्कृष्ट, अनन्तरूप क्या निज-परमात्मा में नही होता है ? (यदि ऐसा है तो फिर) अस्थिर, अतृप्तिकर तथा बंध के कारणभूत ऐसे सांसारिक सुख में मतिमान् सत्पुरुष भी बुद्धि करें (उपयोग लगावें) -- कहो, क्या इसमें (कोई) दोष है?

स्वानुभूति से उत्पन्न होनेवाले आनन्द की महिमा --

आस्तां समस्तमुनिसंस्तुतमस्तमोहम्,
सौख्यं सखे ! विगतखेदमसंख्यमेतत् ।
निस्संगिनां प्रशमजं यदिहापि जातम्,
तस्यांशतोऽपि सदृशं स्मरजं न जातु ॥12॥
अन्वयार्थ : सकल मुनिगणों के द्वारा स्तूयमान, विनष्टमोहवाला, विरहजनितखेद से रहित, गणनातीतरूप यह परम-सुख, अरे प्रिय मित्र, उसकी चर्चा बन्द करो। सम्पूर्ण परिग्रह से निर्मुक्त व्यक्तियों का उपशमभाव से उत्पन्न होनेवाला जो सहजसुख है (वह) इस पंचम काल में भी उत्पन्न हुआ है। मनो जनित (मानसिक-विषयजन्य) सुख इस स्वानुभूतिजन्य सुख के अनन्तवें हिस्से में रहनेवाली समानता को प्राप्त करनेवाला कभी भी नही हो सकता है ।

अब अनंतसुख की प्राप्ति कैसे अशक्य है और कबतक ?

अज्ञाननाम तिमिरप्रसरोऽयमन्त,
सन्दर्शितोऽखिलपदार्थ विपर्ययात्मा ।
मन्त्री स मोहनृपते स्फुरतीह यावत्,
तावत् कुतस्तव शिव तदुपायता वा ॥13॥
अन्वयार्थ : अज्ञानरूपी अन्धकार का प्रसार यह अन्तरंग में दिखलाया गया है। जीवादि सम्पूर्ण पदार्थों से विपरीत स्वरूपवाला बुद्धिसहायक (अर्थात् मंत्री) वह, दर्शन व चारित्र मोहनीयरूप राजा का, ऐसा अज्ञान नामक अद्वितीय (मंत्री) स्फुरायमान है यहाँ जबतक, तबतक तुम्हारे लिए परमसुख अथवा उस परमसुख के हेतुभूत भेदा-भेदात्मक रत्नत्रय की आराधना कहाँ (संभव है) ?

शरीर की अपवित्रता

किं चाशुचौ शुचि-सुगन्धि-रसादिवस्तु,
यस्सिन् गतं नरकृतां समुपैति सद्य ।
ररम्यते तदपि मोहवशाच्छरीरं,

सर्वैरहो विजयते महिमा परोऽस्य ॥14॥

अन्वयार्थ : पवित्र एवं सुगन्धित ऐसी रसादि वस्तु जिस किसी शरीर में डाली जाती है, कैसी अशुचिता है कि वह उसी समय नरकावस्था को प्राप्त हो जाती है। (तथापि) चारित्रमोह के वश होकर पुन: (उसी शरीर को ऐसा जानते हुए भी) स्वयं अतिशयपूर्वक रमण किया जाता है। आश्चर्य है, इस मोह की उत्कृष्ट महिमा हर तरह से विजयी हो रही है !

बहिर्मुख विश्व की दुरवस्था

अज्ञान-घोरसरिदम्बुनिपातमूर्ति,
दुर्मोच-मोहगुरुकर्दम-दूरमार्गम् ।
जन्मान्तकादिमकरैरुरुगृह्यमाणम्,
विश्वं निरीशमवश सहतेऽति-दु:खम् ॥15॥

अन्वयार्थ : विपरीतज्ञानरूपी गहरी नदी के जल में गिरायी गयी मूर्ति के समान ही (अपने आपको) छुडाने में असमर्थ (तथा) दर्शन-चारित्र-मोहनीय रूपी अत्यधिक कीचड (दलदल) से पार को न प्राप्त कर सकनेवाला तथा उत्पत्ति-विनाश (जन्म-मरण) आदि क्रूर मगरमच्छों के द्वारा अच्छी तरह पकडा जाता हुआ (यह) सम्पूर्ण जीव-जगत् अनाथ व्यक्ति के समान वशरहित (बेबस) होकर अत्यन्त दु:ख सहन कर रहा है -- ऐसा साक्षात् देखो ।

भेदविज्ञान से रहित मनुष्य की प्रवृत्ति

अज्ञानमोहमदिरा परिपीय मुग्धम्,
हा हन्त ! हन्ति परिवल्गति जल्पतीष्टम् ।
पश्येदृश जगदिदं पतितं पुरस्ते,
किं कूर्दसे त्वमपि बालिश ! तादृशोऽपि ॥16॥

अन्वयार्थ : हेय और उपादेय के भेदज्ञान से रहित व्यक्ति की तरह विपरीत ज्ञान से उन्मत्तपने को प्राप्त होकर दर्शन व चारित्रमोहनीय नामक मदिरा का आकण्ठ पान करके, कष्ट है, अरे अज्ञानी ! (तू) निश्चयनय की अपेक्षा सत्त्व के परिज्ञानरूप चैतन्य आदि निजजीवगत भावप्राणों का तथा व्यवहार से अन्य जीवों का घात करता है, (और) गम्य-अगम्य आदि विषयक्षेत्रों मे भटकता रहता है, न बोलने योग्य-ऐसी बातों को पसन्द करता है। (अरे मूढ !) अपने सामने दुर्दशा को प्राप्त इस ऐसे जग को देखो । (अब भी) क्यो इठला रहे हो ? तुम भी अज्ञानियों के समान अत्यन्त बालबुद्धि (हो)।

बैरी ममायमहमस्य कृतोपकार:,
इत्यादि दुःखघनपावकपच्यमानम् ।
लोक विलोक्य न मनागपि कंपसे त्वम्,
क्रन्दं कुरुस्व बत तादृश कूर्दसे किम् ? ॥17॥

अन्वयार्थ : 'यह मेरा शत्रु है (अथवा) मैं इसके द्वारा किये गये उपकार को मानता हूँ' -- इत्यादि रूप संकल्पजन्य दुख की अत्यन्त भयंकर आग से जलने वाले अज्ञानी जगत् को देखकर किंचित् मात्र भी नही काँपते हो ? तुम (तो) भय से क्रन्दन करो । हाय! अज्ञानी जनों की भाँति अपने आप को भूलकर (इस दुखमय संसार मे ही संतुष्ट होकर प्रसन्नता से) क्यों नाच रहे हो ?

कर्म से हताश व्यक्ति को दृष्टान्तपूर्वक उत्तर

नो जीयते जगति केनचिदेष मोह,
इत्याकुल किपसि सम्प्रति रे ! वयस्य ।
एकोऽपि कोऽपि पुरत स्थितशत्रु सैन्यम्,
सत्त्वाधिको जयति, शोचसि किं मुधा त्वम् ॥18॥

अन्वयार्थ : 'नही जीता जायेगा लोक में किसी के भी द्वारा यह मोहनीय कर्म' इस प्रकार से आकुलित चित्त वाले क्यों हुए हो? अभी यहाँ तो अरे प्रिय मित्र! अधिक बलशाली अकेला भी कोई व्यक्ति सामने खड़ी हुई शत्रु की सेना को जीत लेगा । तुम व्यर्थ क्यों दु:खी हो रहे हो ?

मोह-बैरी को जीतने का उपाय

मुक्त्वाऽलसत्वमधिसत्त्वं-बलोपपन्न,
स्मृत्वा परा च समतां कुलदेवतां त्वम् ।
सज्ज्ञानचक्रमिदमग ! गृहाण तूर्णम्,
अज्ञानमंत्रियुतमोहरिपूपमर्दि ॥19॥

अन्वयार्थ : आलस्य भाव को छोडकर निज परमात्म-तत्त्व के ज्ञान (सम्यक्त्व) रूपी सेना से युक्त होकर (उत्कृष्ट, सहज आत्मतत्त्व की निश्चल अनुभूतिरूप निश्चय-समता तथा सहकारी कारणभूत मृत्यु-जीवन, निंदा-स्तुति, शत्रु-बांधव, पत्थर-स्वर्ण एवं संसार के दु:ख-सुख आदि में समदर्शित्व भावरूप बहिरंग) समता रूपी कुलदेवता का स्मरण करके विपरीत ज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी मंत्री के साथ-साथ मोहनीय जैसे शत्रु को भी पीडित (परास्त) कर सकते हो । (अत:) हे पुत्र ! सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र-रत्न को तुम शीघ्रता से ग्रहण करो ।

सत्त्व हि केवलमलं फलतीष्टसिद्धि,
युक्तं तया समतया यदि क परस्ते ?
एतद्-द्वयेन सहितं यदि बोधरत्नम्,
एकस्त्वमेव पतिरग चराचराणाम् ।।२20॥

अन्वयार्थ : सत्त्व (निजपरमात्मतत्त्व का रुचिरूप निश्चय-सम्यक्त्व) वस्तुत: अकेला ही इष्टसिद्धि (मोहनाश को) पर्याप्त है। यदि उस पूर्वोक्त समता से युक्त है तो तुमसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है ? इन दोनों के साथ यदि ज्ञानरत्न हो (तो) हे पुत्र ! तुम अकेले ही सम्पूर्ण चराचर रूप संसारी जीवों के समूह के स्वामी होवोगे ।

समता-भावना की सामर्थ्य

कालत्रयेऽपि भुवनत्रयवर्तमान-
सत्त्वप्रमाथि-मदनादिमहारयोऽमी ।
पश्याशु नाशमुपयान्ति दृशैव यस्या,
सा सम्मता ननु सतां समतैव देवी ॥21॥

अन्वयार्थ : अतीत, अनागत और वर्तमान नामक तीनों कालों में, और तीनों लोकों में 'गति' नामकर्म के उदय से परिवर्तमान समस्त प्राणयुक्त जीवतत्त्वों को अत्यधिक मथ डालने के स्वभाव वाले कामविकार आदि भयंकर शत्रुरूपी ये समूह, ऐसी जिस देवी के देखने मात्र से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होते हैं; देखो वह देवी समता-भावना ही सज्जनों के लिए अभीष्ट होगी ।

मल्लो न यस्य भुवनेपि समोऽस्ति सोऽयम्,
काम करोति विकृतिं तव तावदेव ।
यावन्न यासि शरणं समतां समान्तात्
सोपानतामुपगता शिवसौधभूमे ॥22॥

अन्वयार्थ : मोक्षरूपी महल के लिए सर्वतोभावेन सीढीपने को प्राप्त समता की जब तक शरण में नहीं जाते हो, ऐसा वीरशिरोमणि जिसका (प्रतिद्वन्दी) तीनों लोकों में भी नहीं है, वह यह कामदेव तुम्हारे लिए तब तक ही विकार को कराता है ।

चारित्र की आराधना के बिना सुख संभव नहीं

वाञ्छा सुखे यदि सखे ! तदवैमि नाहम्,

धर्मादृते भवति सोऽपि न यावदेते ।
रागादयस्तदशनं समतात एव,
तस्माद् विधेहि हृदि तां सततं सुखाय ॥23॥
अन्वयार्थ : अरे मित्र ! सुख में यदि इच्छा हुई है (तो वह सुख) रत्नत्रयात्मक धर्म (की प्राप्ति) के बिना प्राप्त नहीं हो (सकता है) मैं यह जानता हूँ । (और) जबतक वे रागादिक समाप्त नहीं होते, तबतक (धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती)। इन रागादिकों का विनाश समता से ही होगा । इस कारण से (सुख के लिए) निरन्तर इस समता को मन में धारण करो ।

कामाग्नि के पुंज के बीच समता द्वारा शीतलता

ज्वालायमान-मदनानल-पुंजमध्ये,
विश्व कथं क्वथति कोऽपि कुतूहलेन ।
तस्मिन्नपीह समसौख्यमयीं हिमानीम्,
अध्यासते यतिवरा समता-प्रसादात् ॥24॥
अन्वयार्थ : जलकर भुनते हुए कामरूपी अग्नि के समूह के बीच सम्पूर्ण लोक को यह मोह नामक बैरी विनोदपूर्वक किस प्रकार उबाल रहा है! ऐसी पूर्वोक्त उदयागत जलती हुई कामाग्नि के पुंज के बीच में इस कलिकलित लोक में (भी) समता-भावना से समुद्भूत सुखमयी गंगा में (अवगाहन कर) समता-भावना की कृपा से सभी तपस्वीगण शीतलता में रहते हैं ।
मैत्री-कृपा-प्रमुदिता-शुभगागनानाम्,
शुभ्राभ्रसन्निभमन सदने निवासम् ।
त्वं देहि ता हि समताभिमता सखीत्वात्,
एवं न कोऽपि भुवनेऽपि तवास्ति शत्रु ॥25॥
अन्वयार्थ : (सम्पूर्ण प्राणियों के लिए शांतिकारक चिन्तन वाली) मैत्री, (दीनों पर अनुग्रह-भावरूप) कृपा, (श्रेष्ठ गुणों में अनुरागरूप) प्रमोदभावरूपी सौभाग्यशालिनी स्त्रियों के लिए श्रेष्ठ निर्मल आकाश के समान अपने मनरूपी मकान में रहनेयोग्य स्थान तुम दो (ऐसी स्त्रियों को मामूली नौकरानी मत समझो) । वे (मैत्री-कृपा-प्रमुदिता रूपी स्त्रियाँ) वस्तुत: अभिन्न सख्यभाव होने से (सखी के रूप में) समतारूपी सुन्दरी के लिए स्वीकृत हैं । ऐसा करने पर समस्त लोक में भी तुम्हारे लिए कोई भी शत्रु नहीं (रहेगा) ।

समाधि सुख की प्रेरणा

सत्साम्यभाव-गिरिगह्वर-मध्यमेत्य,
पद्मासनादिकमदोषमिद च बद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि सखे परमात्मरूपम्,
त्व ध्याय, वेत्सि ननु येन सुखं समाधे ॥26॥
अन्वयार्थ : हे आत्मीयजन ! तुम परमसमाधि सम्बन्धी अनन्त-सुख के बीजभूत परम आह्लाद को जिस कारण से (अर्थात् यदि) जानना चाहते हो तो परमस्वास्थ्य-भावरूपी पर्वत की गुफा के बीच में जाकर (चलन आदि) दोषों से रहित इस (प्रत्यक्ष रूप चौंसठ आसनों में से) पद्मासन आदि (किसी इच्छित आसन) को बाँधकर निज निरंजन परमात्मा का निजात्मा में ध्यान करो जिससे समाधि के सुख को जान सको ।

ध्यान-सामग्री का कथन

आराध्य धीर! चरणौ सतत गुरुणाम्,
लब्ध्वा तत दशम - मार्गवरोपदेशम् ।
तस्मिन् विधेहि मनस स्थिरतां प्रयत्नात्,

शोषं प्रयाति तव येन भवापगेयम् ॥27॥

अन्वयार्थ : परिषहों और उपसर्गों को जीतने वाले (हे धीर पुरुष!) निरन्तर, वञ्चना रहित गुरुओं के चरणकमलों की भक्ति के प्रकर्ष से आराधना करो । आराधना के बाद में बालाग्र के आठवें भागप्रमाण तालुरन्ध्र प्रदेश नामक दसवें मार्ग का श्रेष्ठ उपदेश प्राप्त करके उस ब्रह्मरन्ध्र में अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक मन को अविचल करो, जिससे सुषुम्ना-नाडिगत मनोनिरोध से तुम्हारी यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव नामक संसार रूपी तरंगिणी (नदी) सम्पूर्णत: शोष को प्राप्त करेगी (अर्थात् सूख जायेगी) ।

अर्हंत की बीजाराधना का फल

नित्यं निरामयमनन्तमनादि-मध्यम्,
अर्हन्तमूर्जितमजं स्मरतो हृदीशम् ।
नाश न याति यदि जाति-जरादिकं ते,
तर्हि श्रम कथमय न मुधा मुनीनाम् ॥28॥

अन्वयार्थ : (द्रव्यर्थिक नय से) जो नित्य, सम्पूर्ण व्याधियों से रहित, आदि-मध्य और अन्त से भी रहित, प्रकाशरूप, उत्पत्ति-विरहित, परम ऐश्वर्य से युक्त, (तथा) अर्हद् भट्टारक रूप अथवा शुद्ध स्फटिक मणिमय चन्द्रकला के आकार रूप अर्हद् नाम मय है, उसका मन में स्मरण करने से तुम्हारे जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा आदि दोषों का समूह नाश को प्राप्त नही होता है -- यदि ऐसा हो जाये तो तपोधनों का (इन्द्रिय, काम तथा मन के निरोध में होने वाला) श्रम क्या व्यर्थ नही होगा ?

क्षीराम्बुराशिसदृशाशु यदीयरूपम्,
आराध्य सिद्धिमुपयान्ति तपोधनास्त्वम् ।
हहो ! स्वहसहरिविष्टर-सन्निविष्टम,
अर्हन्तमक्षरमिम स्मर कर्ममुक्त्यै ॥29॥

अन्वयार्थ : क्षीरसागर के समान किरण (आभा) वाले ऐसे परमात्मा के निर्मल स्वरूप की आराधना करके तपस्विगण मोक्ष को प्राप्त करते हैं । हे प्रभाकर भट्ट ! तुम (भी) बीजाक्षरों से परिपूर्ण बारह दलों के बीच में निज शुद्धात्मारूपी सिंहासन पर बैठकर दु:खों और कर्मों की निर्मुक्ति के निमित्त 'अर्हद' नामवाले अक्षर का स्मरण करो ।

सकल और निष्कल के वाच्य-वाचकों का निरुपण

यं निष्कलं सकलमक्षयकेवलं वा,
सन्त स्तुवन्ति सततं समभावभाज ।
वाच्यस्य तस्य वरवाचक-मंत्रयुक्त,
हे पान्थ ! शाश्वतपुरीं विश निर्विशक ॥30॥

अन्वयार्थ : सुख-दु ख, जीवन-मरण आदि में समभाव भाजन है, जो ऐसे सत्पुरुष निरन्तर कलातीत और कला-समन्वित, नित्य और असहाय जिस आत्मतत्त्व की स्तुति करते हैं, वाच्यरूप उस श्रेष्ठ तत्त्व के उत्तम वाचकमंत्र से युक्त होकर, हे मोक्षपुरी के पथ के पथिक ! शंकारहित होकर मोक्षपुरी में प्रवेश करो ।

उस (पूर्वोक्त अजपा) आराधना का फल

यन्न्यासत स्फुरति कोऽपि हृदि प्रकाश,
वाग्देवता च वदने पदमादधाति ।
लब्ध्वा तदक्षरवरं गुरुसेवया त्वम्,
मा मा कृथा कथमपीह विरामसस्मात् ॥31॥

अन्वयार्थ : जिस सकल-निष्कल अक्षर की स्थापना करने से मन में कोई विशेष प्रकार का प्रकाश प्रस्फुटित होगा और वाग्देवता

(सरस्वती) भी मुखकमल में स्थान ग्रहण कर लेती हैं, परम-गुरु की उपासना से उस सकल-निष्कल अक्षर के श्रेष्ठ उपदेश को प्राप्त करके तुम इस परम उपदेश से किसी भी तरह इस लोक में इन्कार कभी भी मत करो, मत करो ।

अज्ञान कब तक

भ्रातस्तमस्ततिरिय सरतीह तावत्,
तावच्च रे ! चरप्ति ही रजसि त्वमेव ।
यावत् स्वशर्म-निकरामृतवारि वर्षन्,
अर्हन्-हिमांशुरुदय न करोति तेऽन्त ॥32॥

अन्वयार्थ : तुम्हारे मनरूपी आकाश के मध्य में जब तक निजानन्द की सन्तान रूपी अमृत-जल की वर्षा करता हुआ वाच्य-वाचक-रूप सहज अर्हद देव रूपी निर्मल बालचन्द्रमा प्रादुर्भूत नही होता है, तब तक हे भाई ! यह अज्ञान प्रवर्तित रहता है यहाँ, और तभी तक हे भाई ! तुम ही विवेकहीनता की धूल में, कष्ट है, रहोगे ।

परम्परा से अक्षयसुख के कारणभूत परमात्मा के नाम के अक्षर

'र्हं'मंत्रसारमतिभास्वरधामपुजम,
सम्पूज्य पूजिततम जपसंयमस्थ ।
नित्याभिराममविरामसपारसारम्,
यद्यस्ति ते शिवसुख प्रति सप्रतीच्छा ॥33॥

अन्वयार्थ : निरन्तर शोभा-समन्वित, अवसान-रहित, अनंतसाररूपी सनातन आनंद की अपेक्षा से वर्तमान में वाञ्छा तुम्हे रहती यदि है तो सम्पूर्ण मंत्रों के सारभूत, अत्यन्त मनोहरी, सुन्दर प्रकाश की राशि, जगत् के समस्त आराध्यों से भी आराधित होने योग्य अर्हन्त-अक्षर के जप के अनुष्ठान को करके चिन्तन करो ।

अर्हंत परमात्मा के ध्यान के भेद

द्व्-येकाक्षरं निगदितं ननु पिण्डरूपम्,
तस्यापि मूलमपरं परमं रहस्यम् ।
वदयामि ते गुरुपरम्परया प्रयातम्,
यन्नाहतं ध्वयनति तत्तदनाहताख्यम् ॥34॥

अन्वयार्थ : अरे ! पिंडात्मक मंत्र दो और एक अक्षर वाला कहा गया है । उसका भी मूल अन्य (दूसरा) है, (वह) उत्कृष्ट रहस्य है, जो कि गुरु-परंपरा से आया है, तुम्हारे लिए कहता हूँ । जो बिना आहत हुए ध्वनित होता है, इसलिए वह अनाहत नाम से प्रसिद्ध है ।

इस अनाहत-मंत्र को जानकर क्या करना चाहिए?

अस्मिन्ननाहतबिले विलयेन मुक्ते,
नित्ये निरामयपदे स्वमनो निधाय ।
त्वं याहि योग-शयनीयतल सुखाय,
श्रान्तोऽसि चेत् भवपथभ्रमणेन गाढम् ॥35॥

अन्वयार्थ : [चेत्] यदि [भवपथभ्रमणेन] जन्मादि के मार्ग में होने वाले परिभ्रमण से [गाढम्] अत्यधिक [श्रान्तअसि] थके हुए हो (तो), [विलयेन मुक्ते] विनाशरहित, [नित्ये] नित्य, [निरामयपदै] निरोगपद, [अस्मिन् अनाहतबिले] इस 'अनाहत' रन्ध्रप्रदेश में, [स्वमनो निधाय] अपने मन को लगाकर, [त्वम्] तुम [सुखाय] सुख-प्राप्ति-हेतु [योगशयनीयतलम्] योग (निर्विकल्प समाधि) रूप शय्या पर [याहि] चले जाओ (विश्राम करो) ।

लोकालोकविलोकननैकनयनं यद्वाङ्मयं तस्य या,

मूलं बालमृणालनालसदृशीम् मात्रां सदा तां सतीम् ।
स्मारस्मारममन्द ! मन्दमनसा, स्फारप्रभाभास्वराम्,
संसारार्णव-पारमेहि तरसा किं त्वं वृथा ताम्यसि ॥36॥

अन्वयार्थ : लोकालोक के देखने के लिए जो एकमात्र नेत्र है (ऐसा), जो वाङ्मय है, उसका जो मूलभूत उस विद्यमान बाल कमलनाल के समान मनोहारी प्रभा से प्रकाशमान मात्रा को सदैव अचल मन से बारम्बार स्मरण करते हुए हे बुद्धिमान प्राणी ! शीघ्र भवसागर के पार चले जाओ । तुम व्यर्थ ही क्यो खिन्न हो रहे हो ?

अनाहत प्रदेश उत्कृष्ट फल को देने वाले

जन्माम्बोधि-निपातभीतमनसां, शश्वत्सुखं वाञ्छताम्,
धर्मध्यानमवादि साक्षरमिव, किञ्चित् कथंचिन् मया ।
सूक्ष्मं किंचिदतस्तदेव विधिना, सालम्बनं कथ्यते,
भ्रू भंगादिकदेशसगतमृते, देशै परै किञ्चन ॥37॥

अन्वयार्थ : संसाररूपी सागर में पड़े होने से भयभीत मनवाले, अविनाशी सुख की इच्छा करते हैं, उनके लिए कुछ किसी प्रकार से अक्षरज्ञान युक्त यह धर्मध्यान (विषयक निरूपण) मेरे द्वारा कहा गया है । उसी (निरूपण से सम्बद्ध अपेक्षाकृत) कुछ सूक्ष्म बात को विधिपूर्वक भ्रकुटि आदि प्रदेश के बिना उत्कृष्ट (निज) प्रदेशों द्वारा धर्म-ध्यान (विषयक) कुछ कहा जा रहा है।

बिन्दु रूप अनाहत निरूपण

व्रजसि मनसि मोहं, चंचलं तावदेवम्,
बहुगुणगणगण्यम्, मन्यसेऽन्यञ्च देवम् ।
गुरुवचननियोगान्नेक्षसे यावदेवम्,
शशधरकरगौरं बिन्दुदेव स्फुरन्तम् ॥38॥

अन्वयार्थ : तभी तक मन में मोह को प्राप्त होते रहोगे जबतक ऐसे अस्थिर रहने वाले किसी अन्य देव को अनेक गुणों के समूह से युक्त मानते रहोगे और जबतक इसप्रकार गुरु के उपदेश के नियोग से चन्द्रकला के समान गौर वर्ण वाले प्रकाशमान बिन्दुभूतदेव का साक्षात्कार नही कर पाते हो ।

बिन्दुदेव की आराधना के प्रदेश तथा उस आराधना का फल

झटिति करणयोगाद् वीक्ष्यते भ्रू युगान्ते,
व्रजति यदि मनस्ते बिन्दुदेव स्थिरत्वम् ।
त्रुटति निबिडबन्धो वश्यतामेति मुक्ति,
तदलममलतल्पे योगनिद्रां भजस्व ॥39॥

अन्वयार्थ : शीघ्रता से इन्द्रिय-योग से भ्रकुटी-युगल के मध्य में बिन्दुदेव को देखोगे (इसके फलस्वरूप) यदि तुम्हारा मन स्थिरता को प्राप्त होता है (और) अत्यन्त मजबूत बन्ध (कर्मबंध) टूटता है (तथा) मोक्ष (रूपी लक्ष्मी तुम्हारी) आधीनता को प्राप्त होती है, तो (इतना) पर्याप्त है। (अब तुम) निर्मल (स्वभाव रूपी) शय्या पर योगनिद्रा को धारण करो ।

पवन-जय के विधान का निरूपण करने के लिए मूल अनाहत

सरलविमलनाली-द्वारमूले मनस्त्वम्,
कुरु सरति यतोऽय ब्रह्मरन्ध्रेण वायु ।
परिहृतपरनाली - युग्ममार्गप्रयाण,
बलितमलवलौध केवलज्ञानहेतु ॥40॥

अन्वयार्थ : (हे जीव !) तुम ऋजु एवं निर्मल नाडी (सुषुम्ना) का द्वार जहाँ है, उस प्रदेश में, मन को (स्थिर) करो, ताकि सुषुम्ना नामक दसवी नाडी के द्वार से (बढती हुई) यह वायु अन्य दो नाडियों (इडा व पिंगला) का मार्ग छोडता हुआ प्रयाण करे। (ऐसा होने पर यह वायु) समस्त दुरित मल को नाश करने वाला (तथा) केवलज्ञान का साधन होता है ।

अनाहत की आराधना से रहित व्यक्ति के दु:खों का वर्णन

विलसदलसतातस्तीव्रकर्मोदयाद् वा,
सरलविमलनाली-रन्ध्रमप्राप्य लोक ।
अहह कथमसह्यं दु:खजाल विशालम्,
सहति महति नैवाचार्यमज्ञस्तदर्थम् ॥41॥

अन्वयार्थ : अत्यधिक प्रमादयुक्त आचरण करने से अथवा (पूर्वनिबद्ध पापकर्म) का उदय होने से यह प्राणी सरल और निर्मल नाडी के छिद्र को प्राप्त न करके अत्यन्त खेद की बात है (कि) किस तरह से प्रचुर दु:खों के समूह को सहन करता है । (किन्तु) उस (निर्मल नाडी के छिद्र को) प्राप्त करने के लिए आचार्य (योगशास्त्रीय गुरु) को अज्ञानी प्राणी महत्त्व नही देता है ।

अनाहत-आराधना का निरूपण

रस-रुधिर-पलास्थि-स्नायु-शुक्र-प्रमेद-
प्रचुरतरसमीर-श्लेष्म-पित्तादिपूर्णे
तन-नरक-कुटीरे वासतस्ते घृणा चेत्,
हृदयकमलगर्भे चिन्तय स्व परोऽसि ॥42॥

अन्वयार्थ : (शरीरस्थ धातु विशेष) -- खून-माँस-हड्डी-नसें/नाडियां-वीर्य-चर्बी एवं अत्यधिक वायुविकार-कफ-पित्त इत्यादि से परिपूर्ण शरीररूपी नरक-भवन में रहने से यदि तुम्हे घृणा है (तो), हृदय-कमल के अन्दर अपने को 'तुम अत्यन्त उत्कृष्ट (परमात्मा) हो' (ऐसा) चिंतन करो ।

अजममरममेयं ज्ञानदृग्वीर्यशर्मा-
स्पदमविपदमिष्टं स्वस्वरूपं यदि त्वम् ।
कुरु हृदयनभोऽन्त मानसं निर्विकल्पम्,
वपुषि विषमरोगे नश्वरे मा रमस्व ॥43॥

अन्वयार्थ : अजन्मा / अनादि, अनन्त, (क्षयोपशम ज्ञान की सीमा में आबद्ध न होने से) अमेय, ज्ञान-दर्शन-बल और सुख का स्थान, विपदा रहित, इष्ट, (ऐसे) अपने स्वरूप को यदि तुम (चाहते हो) तो, हृदयाकाश के मध्य मन / उपयोग को विकल्प रहित करो । (तथा) अत्यन्त भयंकर रोगों वाले (इस) नश्वर शरीर में रमण मत करो ।

अपरमपि विधानं धामकासाधिकानाम्,
धुतविधुरविधानं धर्मतो लभ्यते यत् ।
तदहमिह समन्तादहसां मुक्तये ते,
हितपथ-पथिकेदं क्षिप्रमावेदयामि ॥44॥

अन्वयार्थ : (मुक्ति) धाम की अत्यधिक अभिलाषा वाले साधकों के लिए एक अन्य विधि-विधान को जो कि तुच्छ विधि-विधानों को प्रकम्पित (महत्त्वहीन) करने वाला है, (तथा जो) धर्मानुष्ठान द्वारा उपलब्ध (सम्पन्न) होता है उसे भी मैं हे आत्म-हित-साधना के पथिक! तुम्हारे कर्मों की शीघ्र व समग्र रूप से मुक्ति के लिए प्रस्तुत संदर्भ में यह कथन करता हूँ ।

अनाहत-नाद की आराधना और उसका फल

श्रवणयुगलमुलाकाशमासाद्य सद्य,

स्वपिहि पिहितमुक्तस्वान्तसद्-द्वारसारे ।
विलसदमलयोगानल्पतल्पे ततस्त्वम्,
स्फुरितसकलतत्त्वं श्रोष्यसि स्वस्य नादम् ॥45॥

अन्वयार्थ : करणेंद्रिय-युगल के मूल आकाश को प्राप्त करके शीघ्र ही आवृत होते हुए भी अनावृत (मुक्त) निज अन्त:करण के सारभूत द्वार में सुशोभित निर्मल योगरूपी विस्तीर्ण शय्या पर विश्राम करो उससे तुम तत्त्वों को स्फुरित (प्रकटित) करने वाले अपने नाद को सुन सकोगे ।

नाद की उत्पत्ति का काल तथा भेद

शशधर-हुतभोजि-द्वादशार्द्ध-द्विषट्क-
प्रमितविदितमासै स्वस्वरूपप्रदर्शी ।
मदकल परपुष्टाम्भोद - नद्याम्बुराशि-
ध्वनिसदृश-रवत्वाज्जायतेऽसौ चतुर्धा ॥46॥

अन्वयार्थ : एक, तीन, छह और बारह संख्या वाले प्रसिद्ध महीनों में निज-आत्मस्वरूप का प्रदर्शक (नाद श्रवणगोचर होता है, जो कि) मदमत्त कोयल, बादल, नदी व समुद्र -- इनकी (क्रमश: चतुर्विध) ध्वनियों से समानता रखने के कारण (अनाहत नाद) चार प्रकार का होता है ।एक महीने के अनुष्ठान से कोकिल-नाद (श्रुतिगोचर) होता है। तीन महीनों के अनुष्ठान से मेघसदृश नाद होता है। छह महीनों के अनुष्ठान से नदी-घोष (नाद) होता है और बारह महीनों के अनुष्ठान से समुद्र-धोष (नाद) उत्पन्न हो जायेगा -- ऐसा अभिप्राय है।

नाद की उत्पत्ति का स्थान

श्रवणयुगलमध्ये मस्तके वक्षसि स्वे,
भवति भवनमेवां भाषितानां त्रयाणाम ।
विपुलफलमिहैवोत्पद्यते यच्च तेभ्य,
तदपि श्रृणु मया त्यं कथ्यमानं हि तथ्यम् ॥47॥

अन्वयार्थ : दोनों कानों के बीच में, मस्तक में, अपने वक्षस्थल में -- इन तीनों ध्वनियों (कर्णस्थ, मस्तकस्थ, वक्षस्थ) का निवास है। उनसे ही जो विपुल फल भी प्राप्त होता है उसे भी तुम मेरे द्वारा कथ्यमान तथ्य के रूप में सुनो ।

अनाहत नाद का फल

भ्रमरसदृशकेशं मस्तकं दूरदृष्टि,
वपुरजरमरोगं मूलनादप्रसिद्धे ।
अणु-लघु-महिमाद्या सिद्धय स्युर्द्वितीयात्,
सुर-नर-खचरेशां सम्पदश्चान्यभेदात् ॥48॥

अन्वयार्थ : (अनाहत) नाद (कोकिलनाद) की उत्कृष्ट-सिद्धि प्राप्त होने से भौरों के समान (काले व स्निग्ध) बालों वाला हो जाता है । दूर तक देखने मे समर्थ आँखे हो जाती हैं, वृद्धावस्था-रहित रोग-रहित हो जाता है। द्वितीय (मेघसदृश नाद) से अणिमा-लघिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती है और अन्य (तृतीय नदी-नाद) भेद की सिद्धि से देव, मनुष्य व खेचरों के इन्द्रों की सम्पत्तियाँ प्राप्त होती है ।

कर-शिरसि नितम्बे नाभिबिम्बे च कर्णे,
प्रभवति घनघोषाम्भोनिधेर्घोषतुल्य ।
विघटयति कपाट-द्वन्द्वमद्वन्द्वसिद्धा-
स्पद-घटितमघौघ-ध्वंसकोऽयं चतुर्थ ॥49॥

अन्वयार्थ : यह चौथा (समुद्रघोष नामक नाद) हाथ के अग्रभाग (हथेली) में, नितम्ब स्थल में, नाभि-प्रदेश में और कानों में उत्पन्न होता है।

महान् घोष (ध्वनि) वाले समुद्र की गर्जनात्मक ध्वनि से समानता रखने वाला होता है। (तथा) पापों के समूह का विनाशक (होता हुआ) अद्वैत (अद्वितीय) मुक्ति-धाम में लगे हुए (शुभाशुभकर्म रूप) दोनों द्वारों को उद्घाटित कर देता है।

प्रकटित-निजरूपं घोषमाकर्ण्य रम्यम्,

परिहरतु नितान्तं विस्मयं हे यतीश !

कुरुत कुरुत यूयं योगयुक्तं स्वचित्तम्,

तृणजललवतुल्यै किं फलै क्षौद्रसिद्ध्यै ॥50॥

अन्वयार्थ : हे मुनीश्वर ! निजशुद्धात्मस्वरूप को प्रकट करने वाले रमणीय नाद को सुनकर अत्यधिक आश्चर्य करना छोड दो । तुम अपने को योग / समाधि की साधना में (ही) दत्तचित्त किये रहो, तृण (के अग्रभाग पर स्थित) जलबिन्दु के समान (नश्वर) तुच्छ सिद्धि रूप फलों से क्या लाभ है ?

अनाहतनाद की आराधना के द्वारा मुक्तिमार्ग मे प्रवर्तमान

सकलदृगयमेक: केवलज्ञानरूप,

विदधति पदमस्मिन् साधव सिद्धिसिद्ध्यै ।

तदलममुमनूनं नादमाराध्य सम्यक्,

त्वमपि भव शुभात्मा सिद्धि-सीमन्तिनीश: ॥51॥

अन्वयार्थ : यह एक (अखण्ड) सर्वदर्शी केवलज्ञान रूप (जो निश्चय अनाहत है, उसमें) (रत्नत्रय के आराधक) साधुजन / साधकगण (स्वात्मोपलब्धिरूप) सिद्धि की प्राप्ति के लिए पदार्पण करते हैं (अग्रसर होते हैं)। इसलिए (अन्य सांसारिक कार्यों को) छोडो, (और) इस परिपूर्ण (अनाहत) नाद की भलीभाँति आराधना करके (हे प्रभाकर भट्ट) तुम भी (मुक्ति की पात्रता युक्त) शुभात्मा होकर, सिद्धावस्थारूपी सुन्दरी के स्वामी हो जाओ।

ज्योतिरूप अनाहतस्वरूप का निरूपण

बहिरबहिरुदार-ज्योतिरुद्भासि-दीप:,

स्फुरति यदि तवायं नाभिपद्मे स्थितस्य ।

अपसरति तदानीं मोहघोरान्धकार,

चरणकरणदक्षो मोक्षलक्ष्मी-दिदृक्षो: ॥52॥

अन्वयार्थ : मुक्ति रूपी लक्ष्मी के दर्शनों का अभिलाषी नाभि-कमल में स्थित तुम्हारे यदि यह चरण (सहज-परमतत्त्व में अविचल स्थिति) रूप करण (परिणति) में समर्थ / निष्णात बाहर और अन्दर प्रकाशक दीपक (के समान) व्यापक (ज्ञान) ज्योति प्रादुर्भूत होती है तब मोहरूपी घोर अन्धकार विनष्ट हो जाता है ।

इति निगदितमेतद् देशमाश्रित्य किंचित्,

गुरुसमयनियोगात् प्रत्ययस्यापि हेतो: ।

परमपरमुदारज्ञानमानन्दतानम्,

विमलसकलमेकं सम्यगोक समस्ति ॥53॥

अन्वयार्थ : गुरुप्रदत्त उपदेश (आज्ञा) के कारण (दूरदृष्टि आदि यौगिक सिद्धियों की) प्रतीति होने के कारण से भी (गुरु के) उपदेश का आश्रय लेकर कुछ यह (पूर्वोक्त निरूपण) कहा गया है । एक अन्य निरूपण (आगे किया जाने वाला) है, वह, परम उत्कृष्ट है आनन्द को बढाने वाला है, निर्मल व परिपूर्ण है, सम्यक्त्व का निवासस्थान है, (और) अपार सम्यग्ज्ञान-स्वरूप (होने से) समीचीन है ।

मोह और कालवश उपदेश का नाश

प्रथममुदितमुक्तेनादिदेवेन दिव्यम्,

तदनु गणधराद्यै साधुभिर्यद् घृतञ्च ।
कथितमपि कथंचिन्नाधिगम्यं समोहै,
अधिगतमपि नश्यत्याशु सिद्-ध्या विनेह ॥54॥

अन्वयार्थ : जो (युग के प्रारम्भ में) सर्वप्रथम (प्रथम तीर्थंकर) आदिनाथ के द्वारा जिनवाणी के रूप से दिव्यध्वनि के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था और उनके पश्चात् गणधर देव आदि के द्वारा(तथा) मुनिवरों / आचार्यों के द्वारा धारणा में (सुरक्षित) रखा गया (वह उपदेश) किसी तरह कहे जाने पर भी मोहयुक्त प्राणियों के द्वारा (हृदय में उतारने या) समझने योग्य नहीं हो पाता है, (तथा यदि किसी प्रकार) समझ में आ भी जाये (तो) इस कलिकाल में वांछित सिद्धि के बिना शीघ्र नष्ट होता जा रहा है ।

दिव्य-उपदेश का निरूपण

स्वर-निकर-विसर्ग-व्यञ्जनाद्यक्षरैर्यद्,
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम् ।
अरस - तिमिररूप-स्पर्श-गन्धाम्बु-वायु-
क्षिति-पवनसखाणु-स्थूल-दिक्चक्रवालम् ॥55॥
ज्वर-जनन-जराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नोगतिर्वा ।
तदतिविशदचित्तै लभ्यते-अंगेऽपि तत्त्वम्,
गुरुगुण-गुरुपादाम्भोज-सेवाप्रसादात् ॥56॥

अन्वयार्थ : जो (तत्त्व) अकारादि स्वरों के समूह, विसर्ग, 'क' आदि व्यजनाक्षरों आदि से रहित है, अहितकारी विभाव-परिणामों से रहित है, अविनाशी (नित्य) है, संख्यातीत (अनन्त) है; रस, अन्धकार, रूप, स्पर्श, गन्ध, जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि, अणुता (स्थूलता), दिशाओं के समूह (पूर्व-पश्चिम आदि क्षेत्र-भेद) से जो रहित है, (तथा) जहाँ ज्वर, जन्म, वृद्धावस्था की वेदना नहीं है, मृत्यु का प्रभाव नहीं है, गति-आगति -- दोनों का जहाँ अभाव है, उस तत्त्व को श्रेष्ठ गुणों वाले गुरुजनों के चरण-कमलों की सेवा के प्रसाद से अत्यन्त निर्मल मन वालों (साधकों) को (अपने) शरीर में भी प्राप्त हो जाता है ।

गुरु के उपदेश के बिना तत्त्व का परिज्ञान नहीं

गिरि-गहनगुहाद्यारण्य-शून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोध-ध्यान-तीर्थोपसेवा-
प्रपठन-जप-होमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धि,
मृगय तदपरं त्वं भो प्रकारं गुरुभ्य: ॥57॥

अन्वयार्थ : पर्वतों, उनकी गहन गुफाओ एवं जगल आदि के निर्जन प्रदेशों में कायोत्सर्ग (स्थिति), इन्द्रिय-निरोध, ध्यान (सरागी देवताओं का), तीर्थों के सेवन, (स्तोत्रादि के) पठन, जप, होम -- इनसे ब्रह्म (शुद्धात्म-तत्त्व) की सिद्धि नहीं होती है इसलिए हे शिष्य ! गुरुओं के पास से दूसरे तरीके की खोज करो ।

गुरु-उपदेश का महत्व

दृगवगमनलक्ष्म स्वस्य तत्त्वं समन्ताद्,
गतमपि निजदेहे देहिभिर्नोपलक्ष्यम् ।
तदपि गृरुवचोभिर्बोध्यते तेन देव,
गुरुविगतत्त्वस्तत्त्वत: पूजनीय ॥58॥

अन्वयार्थ : दर्शन व ज्ञान चिह्न वाले निज परमात्म तत्त्व को अपने शरीर में समस्त अंशों में (चेतना रूप से) व्याप्त होने पर भी शरीरधारी

प्राणियों द्वारा दृष्टिगोचर / अनुभूतिगम्य नहीं हो पाता है । वह (परमात्मतत्त्व) भी सद्गुरु के उपदेशों से ज्ञात हो जाता है । इस कारण से तत्त्वज्ञानी सद्गुरुदेव यथार्थत: पूजनीय हैं ।

फल प्राप्ति में कृतज्ञता

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धे:,
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥59॥

अन्वयार्थ : अभीष्टफल की सिद्धि का श्रेष्ठ उपाय सम्यग्ज्ञान है और वह (सम्यग्ज्ञान) शास्त्र (के श्रवण) से उत्पन्न होता है; और उस (शास्त्र) की आप्त (तीर्थंकर / अर्हन्त आदि) से उत्पत्ति (होती है) । इसलिए उस (गुरु) के प्रसाद / अनुग्रह से प्रबोध पाने वालों के लिए वह (आप्त, आगम, गुरु) पूज्य है क्योंकि किया गया उपकार सत्पुरुष नहीं भूलते ।

मोक्षमार्ग की आराधना

दृगवगमनवृत्त - स्वस्वरूपे प्रविष्ट:,
वृजति जलधिकल्पं ब्रह्म गम्भीरभावम् ।
त्वमपि सुनय ! मत्त्वा मद्वच सारमस्मिन्,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिधाम ॥60॥

अन्वयार्थ : (सम्यग्) दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निज स्वरूप में अंतरंग स्थिति प्राप्त कर अत्यन्त गम्भीर (निस्तरंग) समुद्र के समान निर्विकल्प आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है । हे (निश्चय) नय के ज्ञानी! तुम भी मेरे वचनों के निष्कर्ष को समझकर (रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप में) (स्थित) हो जाओ (ताकि) भव भ्रमण का अन्त होने पर प्राप्त होनेवाले शाश्वत मुक्तिधाम के अधिपति हो जाओ ।

अस्थिर मन दोषयुक्त

यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्,
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंग: ।
तदनवरतमन्तर्मग्न संविग्निचित्त:,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥61॥

अन्वयार्थ : अगर किसी कारणवश (तुम्हारा) मन / उपयोग अपने निज (शुद्धात्म) स्वरूप से चलायमान हो जाता है, (और) बाहर (विषयों में) भटकता है (तो) अत: उक्त कारण से तुम्हारे सभी दोषों का प्रसंग आ जाता है । तो निरन्तर अन्तर्लीनता को प्राप्त संवेग-युक्त चित्त वाले हो जाओ, (जिससे) तुम संसार के विनाश से स्थिरता को प्राप्त (मोक्षरूपी) धाम के स्वामी हो जाओगे ।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेशोपधिरत ॥62॥

अन्वयार्थ : प्राणियों की अहिंसा लोक में परम ब्रह्म (के रूप में) जानी जाती (प्रसिद्ध) है । जहाँ अणुमात्र भी आरम्भ (हिंसा) विद्यमान है (ऐसी) उस आश्रम-विधि (व्यवस्था) में वह (अहिंसा) संभव नही है । इसलिए उस (अहिंसा / पूर्ण वीतरागता) की सिद्धि (उपलब्धि) के उद्देश्य से परम करुणा से युक्त आप (तीर्थंकर नमिनाथ जिनेन्द्र) ने ही दोनों (बाह्य व आभ्यन्तर) परिग्रह को त्याग दिया था किन्तु विकृतवेशधारी तथा परिग्रह-धारी (किसी शासनेतर देव) ने नहीं (त्याग किया है) ।

परमयोगी के लिए शरीर में ममकार नहीं

बहिरबहिरसारे दुःखभारे शरीरे,
क्षयिणि बत रमन्ते मोहिनोऽस्मिन् वराका ।
इति यदि तव बुद्धिर्निर्विकल्पस्वरूपे,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥63॥

अन्वयार्थ : बाहर और भीतर सारहीन (तुच्छ) दुखों के भार (से लदे हुए) विनाशशील इस शरीर में खेद की बात है कि बेचारे मोहग्रस्त प्राणी इस प्रकार की यदि तुम्हारी बुद्धि (विचारधारा) है तो निर्विकल्प निजस्वरूप में (स्थिर) हो जाओ (जिससे) तुम भव-भ्रमण का नाश हो जाने से स्थायित्व को प्राप्त (मुक्तिरूपी) धाम के स्वामी हो जाओगे ।

अजंगमं जंगमनेययन्त्रम्,
यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
वीभत्सु - पूति - क्षयि - तापकञ्च,
स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्य ॥64॥

अन्वयार्थ : जीव द्वारा धारण किया हुआ (यह) शरीर उसी प्रकार का है जैसे कि (कोई) जड़ यन्त्र हो, जो जंगम (चेतन व्यक्ति) द्वारा (प्रवतित होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक) ले जाया जाता है और (यह) घृणात्मक, दुर्गन्धित, नश्वर और सन्ताप (कष्टदायक) है। इस (ऐसे शरीर) में स्नेह करना व्यर्थ है ऐसा हितकारी (उपदेश) आप (सुपार्श्व जिनेन्द्र) ने कहा है ।

राग-द्वेष की उत्पत्ति और इनके उपशमन के निमित्त

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदात्,
विदधति पदमेते राग-रोषोदयस्ते ।
तदलममलमेक निष्कलं निष्क्रिय सन्,
भज, भजसि समाधे सत्फलं येन नित्यम् ॥65॥

अन्वयार्थ : यह-यह अत्यन्त रमणीय है यह (रमणीय) नही है इत्यादि (पर-पदार्थों में हेयोपादेय रूप) भेदबुद्धि से ये राग-द्वेष आदिक तुम्हारे (अन्दर) में प्रवेश करते (कदम रखते / उत्पन्न होते) हैं। इसलिए (इन राग-रोषादिक से) निवृत्त होओ (और) (पर में) क्रिया-रहित होते हुए निष्कलंक एक नि:शरीरी (निजात्मतत्त्व को) भजो (ध्यान करो) जिससे कि तुम समाधि के अविनाशी श्रेष्ठ फल को भोग सकोगे / अनुभव करोगे ।

निर्विकल्पस्वरूप आराधना ही साक्षात् मोक्ष का हेतु

तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते, यावद्-द्वैतस्य गोचरम् ।
अद्वये निष्कले प्राप्ते, निष्क्रियस्य कुत क्रिया ॥66॥

अन्वयार्थ : जब तक द्वैत सम्बन्धी (इन्द्रयादि-जनित) अनुभव होता है तबतक शुभाशुभ संकल्प-विकल्पादि आभ्यन्तर तथा शारीरिक वाचिक आदि बाह्य) क्रियाएँ प्रवर्तित होती रहती हैं । अखण्ड (अद्वैत-निष्कल) (आत्मतत्त्व की अनुभूति) प्राप्त होने पर निष्क्रिय या निर्विकल्प (दशा को प्राप्त आत्मा) के (शुभाशुभ) क्रियाऐं (कर्म) कैसे हो सकतीं है ?

अहंकार ममकार को छोड़ने की प्रेरणा

अहमहमिह मोहाद् भावना यावदन्त,
भवति भवति बन्धस्तावदेषोऽपि नित्यम् ।
क्षणिकमिदमशेषं विश्वमालोक्य तस्माद्,
व्रज शरणममन्द शान्तये त्वं समाधे ॥67॥

अन्वयार्थ : जब तक मोह के उदय के कारण मैं-मैं (मैं-मेरा) इस प्रकार की भावना इस मन में होती रहती है तब तक यह बन्ध भी नित्य / निरन्तर होता रहता है । इस सम्पूर्ण विश्व को क्षणभंगुर जानकर तुम आलस्य-रहित (होकर) शान्ति (की प्राप्ति) के लिए समाधि की शरण में जाओ ।

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो,
नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम् ।
अन्य शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी,
नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्ग: ॥68॥

अन्वयार्थ : चूंकि मन में अहंकार का भाव (रहने पर) जन्म (मरणरूप संसार) की परम्परा शान्त (समाप्त) नहीं होती है और आत्मदृष्टि (सम्यक्त्व) होने पर हृदय से (उपयोग में) अहंकार (अहंबुद्धि व ममबुद्धिभाव) गतिशील नहीं होता है और इसलोक में शून्यवादी कोई दूसरा उपदेशक नहीं है। इसलिए संसार-बन्ध के उपशम का तुम्हारे मत (सिद्धान्त) से भिन्न (कोई) मार्ग नहीं है ।

चिन्मयज्योतिरूप आत्मा

रविरयमयमिन्दुर्द्योतयन्तौ पदार्थान्,
विलसति सति यस्मिन् नासतीमौ तु भात ।
तदपि बत हतात्मा ज्ञानपुञ्जेऽपि तस्मिन,
व्रजति महति मोहं हेतुना केन कश्चित् ॥69॥

अन्वयार्थ : यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) सूर्य और चन्द्र जिस (आत्मा) के प्रकाशमान होने पर ही पदार्थों को प्रकाशित कर (ने से समर्थ हो) पाते हैं। किन्तु (जिस आत्मा के प्रकाशमान) न होने पर दोनों (सूर्य-चन्द्र) प्रकाशक नहीं (होते है)। इसलिए अत्यन्त खेद की बात है (कि) उस महान् ज्ञान (रूपी प्रकाश) के पुञ्ज (परमात्मतत्त्व के सम्बन्ध) में भी कोई हतभाग्य व्यक्ति क्या कारण है कि मोह (अज्ञानता) को प्राप्त हो जाता है।

निज-निरंजन परमात्मा का प्रकाश उपादेय

यो लोक ज्वलयत्यनल्पमहिसा सोऽप्येष तेजोनिधि:,
यस्मिन् सत्यवभाति नासति पुनर्देवोंऽशुमाली स्वयम्।
तस्मिन् बोधमयप्रकाश - विशदे मोहान्धकारापहे,
येऽन्तर्यामिनि पूरुषेऽप्रतिहते सशेरते ते हता ॥70॥

अन्वयार्थ : अत्यधिक महिमाशाली जो (इस तिर्यक् / मध्य) लोक को (अपनी तीक्षण किरणों से) जलाता है वह भी यह स्वयं ज्योति-पुंज सूर्यदेव भी जिसके रहने पर प्रकाशमान होता है (और जिसके) न रहने पर (प्रकाशमान) नही (होता) उस ज्ञानात्मक प्रकाश से विस्तीर्ण (लोकव्यापी) मोह / अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर भगानेवाले अप्रतिहत / अबाधित सामर्थ्यवाले (देह के) अन्तर में विद्यमान पुरुष (आत्मा) के सम्बन्ध से जो सुप्त / प्रमाद-युक्त हैं (अज्ञानभाव रखते हैं) वे हतभाग्य हैं (कर्मबन्धन के कारण) विनाश को प्राप्त होते हैं ।

अनन्तसुख का कारण अतींद्रिय (स्वसंवेदन) ज्ञान (ही) उपादेय

करणजनितबुद्धिर्नेक्षते मूर्ति-मुक्तम्,
श्रुतजनितमतिर्याऽस्पष्टमेयावभासा ।
उभयमतिनिरोध - स्पष्टमत्यक्षमक्षम्,
स्वमधिवस निवासं शाश्वतं लप्स्यसे त्वम् ॥71॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न या इन्द्रियाधीन ज्ञान अमूर्त (आत्म) तत्त्व को नहीं देख सकेगा । (और) जो श्रुतावरणकर्म के क्षयोपशम (अथवा जिनवाणी के अभ्यास से) जनित जो बुद्धि (है, वह) (ज्ञेयों का) पूर्णस्पष्ट व निर्मल अवभासन नहीं करा पाती है। (अत: इन)

(पूर्वोक्त) दोनों प्रकार की बुद्धियों का निरोध करने पर स्पष्टता को प्राप्त इन्द्रियातीत (ऐसे) निजात्मतत्व में निवास करो (जिससे) तुम भी अविनाशी निवास (मोक्ष) को प्राप्त करोगे ।

परमब्रह्मस्वरूप को प्राप्त न कर सकना ही संसार

प्राणापानप्रयाण कफ-पवन-भवव्याधयस्तावदेते,
स्पन्दो दृष्टेश्च तावत् तव चपलतया न स्थिराणीन्द्रियाणि ।
भोगा एते चर भोक्ता त्वमपि भवसि हे हेलया यावदन्त:,
साधो साधूपदेशात् विशसि न परमब्रह्मणो निष्कलस्य ॥72॥

अन्वयार्थ : हे साधु ! समीचीन (धर्म) उपदेश (प्राप्त करने) से निष्कल परमब्रह्म के अन्दर क्रीडा मात्र से (सहजता के साथ) प्रविष्ट नहीं होते तब तक तुम्हारे उच्छवास-नि:श्वास का आवागमन (होता रहेगा) कफ व वायु (विकारों) से होने वाली ये व्याधियां (होती रहेगी) आँख का स्पन्दन (खुलना व झपकना) भी (होता रहेगा) चंचलता के कारण इन्द्रियाँ स्थिरता (को प्राप्त) नहीं (हो सकेंगी) ये (पचेन्द्रियों के) भोग भी (प्रस्तुत) रहेंगे और तुम (उन भोगों के) भोक्ता भी बने रहोगे ।

ब्रह्माण्डं यस्य मध्ये महदपि सदृश दृश्यते रेणुनेदम्,
तस्मिन्नाकाशरन्ध्रे निरवधिनि मनो दूरमायोज्य सम्यक् ।
तेजोराशौ परेऽस्मिन् परिहृत-सदसद्-वृत्तितो लब्धलक्ष्य,
हे दक्षाध्यक्षरूपे भव भवसि भवाम्बोधि-पारावलोकी ॥73॥

अन्वयार्थ : जिसके अन्दर (प्रतिबिम्बित) यह विशाल ब्रह्माण्ड भी धूलिकण् के समान दिखाई देता है उस असीम आकाशरन्ध्र में अच्छी तरह से अन्तस्तल तक मन को संयुक्त करके, हे दक्ष ! इस तेज पुंज (स्वसंवेदन द्वारा) प्रत्यक्षरूप परम (आत्मतत्त्व) में सभी शुभाशुभवृत्तियों का त्याग करने के कारण लक्ष्य को प्राप्त करने वाले बन जाओ (ताकि) संसार-समुद्र के पार स्थित (परमात्मतत्त्व) का साक्षात्कार करने वाले हो जाओ ।

संसारासारकर्मप्रचुरतर-मरुत्प्रेरणाद् भ्राम्यताऽत्र,
भ्रातर्ब्रह्माण्डखण्डे नव-नव-कुवपुर्गृहणता मुञ्चता च ।
कः क: कौतस्कुत: क्व क्वचिदपि विषयो यो न भुक्तो न मुक्त,
जातेदानीं विरक्तिस्तव यदि विष रे ! ब्रह्म-गम्भीरसिन्धुम् ॥74॥

अन्वयार्थ : हे भाई ! इस संसार में नि:सार कर्मरूपी अधिक प्रवहमान वायु की प्रेरणा से भ्रमण करते हुए और ब्रह्माण्ड के (विविध) भागों में (नित) नये-नये कुत्सित शरीरों को धारणा करते और छोड़ते हुए (तुम्हारे द्वारा) कौन-कौन-सा किस-किस प्रकार से और कहाँ-कहाँ विषय (पदार्थ) है जो न भोगा गया हो और (भोगकर) न छोडा गया हो ? यदि तुम्हारे (मन में) अब विरक्ति (उत्पन्न) हुई हो (तो) हे भाई ! ब्रह्मरूपी गम्भीर समुद्र में प्रवेश कर जाओ ।

पारावारोऽतिपार सुगिरिरुरुरयं रे! वरं तीर्थमेतत्,
रेवा रंगत्तरंगा सुरसरिदपरा रेवतीशो हरिर्वा ।
इत्युद्भ्रान्तान्तरात्मा भ्रमति बहुतरं तावदात्मात्ममुक्त्यै,
यावद्-देहऽपि देही हित-विहित-हित-ब्रह्म शुद्ध न पश्येत् ॥75॥

अन्वयार्थ : जब तक शरीरधारी होते हुए भी (यह) आत्मा(कर्मों से) अपनी मुक्ति के लिए (प्राप्त) शरीर में शुद्ध(आत्म) हित के हेतु हितरूपता (निश्चयरत्नत्रयात्मकता) को प्राप्त ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करता तब तक 'यह अपार समुद्र (है)' '(यह) विशाल श्रेष्ठ पर्वत (है)', (और) बडी-बडी तरंगों वाली दूसरी देव नदी (गंगा) है', 'हे भाई ! यह (पूर्वोक्त) श्रेष्ठ तीर्थ है', 'यह बलराम अथवा विष्णु (की प्रतिमाएँ) हैं' इस प्रकार भ्रान्ति (अज्ञान) से युक्त अन्तरंगवाला आत्मा (होता हुआ यह जीव) (संसार में) अत्यधिक भटकता रहता है ।

संसार में कदापि सुख नहीं है

विश्वे विश्वभरेशा शिरसि मम पादाम्भोजयुग्मं वदन्ते,
वश्या भावस्य लक्ष्मीर्वपुरपि निरघं विघ्नहेतु कुतो मे ।
इत्यादौ शर्म-हेतौ निपतति निखिले 'किं ततो' मुद्गरोऽयम्,
तस्मात्तद् ध्याय किंचित् स्थिरतरमनसा 'किं ततो' यत्र नास्ति ॥76॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण राजा-महाराजा मेरे दोनों चरणकमलों को (अपने) मस्तक पर रखते है। लक्ष्मी (मेरे मनो-भावों की) वशीभूत है (मेरा) शरीर भी निरोग है, (तब फिर) मेरे लिए किस प्रकार विघ्न पैदा करने वाला (कोई होगा ?) इत्यादि समस्त सुख (कल्याण) के साधनों के होने पर (भी) 'तो या हुआ ?' (इस कथन रूप) यह मुद्गर गिरता है (अर्थात् सभी सुख-साधनों पर प्रश्नचिह्न लगा देता है) इसलिए स्थिरचित्त से (एकाग्रमन होकर) उस अनिर्वचनीय (चेतनतत्त्व) का, ध्याय-ध्यान करो जिसमें 'तो क्या हुआ ?' (यह प्रश्नचिह्न) नही होता है ।

भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित संसार की असारता

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां तत: किम्,
जाता श्रिय: सकलकामदुधास्तत: किम् ।
सन्तर्पिता प्रणयिनो विभवैस्तत: किम्,
कल्पस्थितं तनुभृतां तनुभिस्तत किम् ॥77॥

अन्वयार्थ : शत्रुओं के सिर पर पाँव रखा तो क्या हुआ ? समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली लक्ष्मी (ऐश्वर्य, विभूतियां) भी हुई तो क्या हुआ ? वैभव (सम्पत्ति) से प्रेमी (इष्टजनों) को सन्तृप्त किया तो (भी) क्या हुआ ? इस देह से पृथ्वी पर कल्पान्त तक स्थित (जीवित) रहा गया तो (भी) क्या हुआ ? (अविनाशी निराबाध सुख तो नही मिला, तथा भौतिक सुख-साधनों का तो एक-न-एक दिन अभाव होगा और मृत्यु का मुख देखना ही पडेगा ।)

परम-उपदेश का निरूपण

तस्मादनन्तमजरं परम-प्रकाशम्,
तच्चित्त चिन्तय किमेभिरसद् -विकल्पै ।
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य-
भोगादय कृपणजन्तुमता भवन्ति ॥78॥

अन्वयार्थ : (सांसारिक सुख अस्थायी व दुखजनित है) इसलिए हे मन ! इन अप्रशस्त विकलपों से क्या लाभ ? उस अनन्त-अजर-परमज्योति स्वरूप (चिदात्मा) का ध्यान करो। ये लोकाधिपति आदि के काम-भोग आदि (तो) जिस (परमात्माराधना) के आनुषंगिक (गौणरूप से प्राप्त होने वाले फल) हैं (और ये) अज्ञानी जनों के लिए ही सम्मत (अभीष्ट) होते हैं ।

उपशमफलाद् विद्याबीजात्फलं वरमिच्छताम्,
भवति विपुलो यद्यायास्तदत्र किमद्भुतम् ।
न नियतफला सर्वे भावा फलान्तरमीशते,
जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥79॥

अन्वयार्थ : उपशम (प्रशम) भावरूप फलवाले (स्वसंवेदन) ज्ञानरूपी बीज से (उपशम से भी) उत्कृष्ट फल को चाहने वालों का यदि अत्यधिक श्रम (दृष्टिगोचर) होता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? निश्चित फल (को उत्पन्न करने) वाले समस्त पदार्थ (अपने नियत फल से) भिन्न फल को (उत्पन्न करने में) समर्थ नहीं होते हैं । धान का बीज कभी भी जौ के अंकुर को उत्पन्न नहीं करता है ।

अन्त्य मंगल

चंचच्चन्द्रोरुरोची-रुचिरतरवच: क्षीरनीरप्रवाहे,

मज्जन्तोऽपि प्रमोदं परममरनरा संज्ञिनोऽगुर्यदीये ।
योगज्वालायमान-ज्वलदनलशिखा-क्लेशवल्ली-विहोता,
योगीन्द्रो व: सचन्द्रप्रभविभुरविभुर्मंगलं सर्वकालम् ॥80॥

अन्वयार्थ : जिसके सर्वत: प्रकाशमान चन्द्रमा की विस्तृत किरणों की प्रभा से भी अधिक मनोहर वाणी रूपी क्षीर (सागर) की जलधारा में समनस्क देवगण तथा मनुष्य स्नान करते हुए भी अत्यधिक हर्ष को प्राप्त हुए हैं। योग-साधनारूपी प्रकाशमान प्रज्वलित अग्नि-शिखा में क्लेशों की लता का हवन करनेवाले योगियों के इन्द्र (अधिपति) (पक्ष में ग्रन्थकर्ता) जिसका अन्य कोई स्वामी न हो (ऐसे तीर्थंकर) चन्द्रप्रभ स्वामी सर्वदा हमारे लिए मंगलकारी हों ।

टीकाकार की प्रशस्ति

वरसैद्धान्तिकचक्रेश्वर नयकीर्ति-व्रतीश-
सुतनखिलकला-धरनिषदं निजचिद्गुण-
परिणतनध्यात्मिबालचन्द्रमुनीन्द्रम् ॥1॥
अमृताशीतिगे टीकनुद्धरिसिदं-
कर्नाटदिंदात्मतत्त्वमनत्युत्तमबोध-
दृक्-सुखदमं चन्द्रप्रभार्यगे कूर्त्तु मन बोक्किरे -
पेल्वेनेम्ब बगेयिं श्री बालचन्द्र सदा-
विमलं श्री नयकीर्ति देवतनयं चारित्रचक्रेश्वरम् ॥2॥
॥ श्रीवीरनाथाय नम: ॥
॥ श्री पंचगुरुभ्यो नम: ॥
॥ श्रीवीतरागाय नम: ॥

अन्वयार्थ : सर्वदा शुद्ध (आचरण वाले) चारित्रचक्रवर्ती श्री नयकीर्तिदेव के शिष्य श्री बालचन्द्र (टीकाकार) अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन व सुख को देने वाले तथा (शुद्ध) आत्मतत्त्व को आत्मसात् कराने वाले (इस) अमृताशीति (नामक ग्रन्थ) की कन्नड भाषा के द्वारा टीका को चन्द्रप्रभार्य के लिए प्रतिपादन करने की इच्छा से सम्बोधित करते हुए उद्धृत (रचना) करते हैं ।

श्री महावीर स्वामी को नमस्कार हो । श्री पञ्चपरमेष्ठियो को नमस्कार हो !! श्री वीतराग (परमात्मा) को नमस्कार हो !!!